॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

वर्ष : २
अंक : ९

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

पौष
२४७३

❀ व्यर्थ का बखेड़ा ❀

हे भाई! अनंतकाल से जो महा मूल्य बात कही जाती है, उसे समझने का उत्साह होना चाहिये। जैसे मत्त सांढ़, घूरे को उखाड़ता है और उसकी धूल, राख, विष्टा को अपने ही सिर पर डालता है तथा गू, गोबर और राख इत्यादि के बहुत बड़े ढेर में अपना सिर मार-मारकर बड़े ही जोर से डकारता है और मानता है कि मैंने कितना बल प्रयोग किया, कितना सारा तोड़ा-फोड़ा और फैला दिया।

किन्तु सांढ़ का वह व्यर्थ का बखेड़ा है; इसी प्रकार संसार के कुछ काम कर डालें, इस प्रकार के अभिमान का व्यर्थ का बखेड़ा करके लोग उसमें हर्ष मानते हैं। अज्ञानभाव में संसार के घूरे को उठा फेंकने का बल करके संसार उछलकूद करता है किन्तु उससे कुछ भी हाथ नहीं लगता, जहाँ भीतर भाव भरा हुआ है, वहाँ झाँककर जीव अपना सिर नहीं मारता।

आत्मा एकरूप ज्ञायक ध्रुव टंकोत्कीर्ण वस्तु है, उसे विवेक का मस्तक मारकर जागृत करना है। अनादिकाल से अज्ञान में उछलकूद मनाई है, अब उस पर की ममता में सोते रहने से काम नहीं चलेगा।

[समयसार प्रवचन (गुजराती) भाग-१, पृष्ठ २५८-२५९]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग २१ दर्शक मासिक पत्र

एक अंक पाँच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

आत्मधर्म
: वर्ष : २ : : अंक : ९ :
२१
: पौष : : २४७३ :

ज्ञानी कहते हैं कि सर्व प्रथम पुरुषार्थ के द्वारा यथार्थ ज्ञान करके

मिथ्यात्व भाव को छोड़ो

प्रश्न—यह जीव जैन का नामधारी त्यागी साधु अनंत बार हुआ फिर भी उसे अभी तक मोक्ष क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—जैन का नामधारी त्यागी साधु अनंत बार हुआ, यह बात ठीक है, किन्त अन्तरंग में मिथ्यात्वरूप महापाप का त्याग एक बार भी नहीं किया; इसलिये उसका संसार बना हुआ है, क्योंकि संसार का कारण मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न—तो फिर त्यागी साधु हुआ उसका फल क्या ?

उत्तर—बाह्य में जो परद्रव्य का त्याग हुआ, उसका फल आत्मा को नहीं होता परंतु ''मैं इस परद्रव्य को छोड़ूं'' यह माने तो ऐसी परद्रव्य की कर्तृत्वबुद्धि का महापाप आत्मा को होता है और उसका फल संसार ही है। यदि कदाचित् कोई जीव बाहर से त्यागी न दिखाई दे परंतु यदि उसने सच्ची समझ के द्वारा अंतरंग में परद्रव्य की कर्तृत्वबुद्धि का अनंत पाप त्याग दिया हो तो वह धर्मी है और उसके उस त्याग का फल मोक्ष है। पहले के नामधारी साधु की अपेक्षा दूसरा मिथ्यात्व का त्यागी अनंत गुना उत्तम है। पहले को मिथ्यात्व का अत्याग होने से वह संसार में परिभ्रमण करेगा और दूसरे को मिथ्यात्व का त्याग होने से वह अल्प काल में अवश्य मोक्ष जायगा।

प्रश्न—तब क्या हमें त्याग नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर उपरोक्त कथन में आ गया है। 'त्याग नहीं करना चाहिये' यह बात उपरोक्त कथन में कहीं भी नहीं है, प्रत्युत इस कथन में यह बताया है कि त्याग का फल मोक्ष और अत्याग का फल संसार; किन्तु त्याग किसका ? मिथ्यात्व का या परवस्तु का ? मिथ्यात्व के ही त्याग का फल मोक्ष है। परवस्तु का ग्रहण अथवा त्याग कोई कर ही नहीं सकता, तब फिर परवस्तु के त्याग का प्रश्न कहाँ से उठ सकता है ? बाह्य में जो परद्रव्य का त्याग हुआ, उसका फल आत्मा को नहीं है। पहले यथार्थ ज्ञान के द्वारा परद्रव्य में कर्तृत्व की बुद्धि को छोड़कर उस समझ में ही

अनंत परद्रव्य के स्वामित्व का त्याग होता है। पर में कर्तृत्व की मान्यता का त्याग करने के बाद जिस प्रकार के राग भाव का त्याग करता है, उस-उस प्रकार के बाह्य निमित्त स्वतः ही दूर हो जाते हैं। बाह्य निमित्तों के दूर हो जाने का फल आत्मा को नहीं मिलता, किन्तु भीतर जो राग भाव का त्याग किया, उस त्याग का फल आत्मा को मिलता है।

इससे स्पष्टतया यह निश्चय होता है कि सर्व प्रथम 'कोई परद्रव्य मेरा नहीं है और मैं किसी परद्रव्य का कर्ता नहीं हूँ' इस प्रकार दृष्टि में (अभिप्राय में, मान्यता में) सर्व परद्रव्य के स्वामित्व का त्याग हो जाना चाहिये। जब ऐसी दृष्टि होती है, तभी त्याग का प्रारंभ होता है अर्थात् सर्व प्रथम मिथ्यात्व का ही त्याग हो जाता है। जब तक ऐसी दृष्टि नहीं होती और मिथ्यात्व का त्याग नहीं होता, तब तक किंचित्मात्र भी सच्चा त्याग नहीं होता और सच्ची दृष्टिपूर्वक मिथ्यात्व का त्याग करने के बाद क्रमशः ज्यों-ज्यों स्वरूप की स्थिरता के द्वारा राग का त्याग करता है, त्यों-त्यों उसके अनुसार बाह्य संयोग स्वयं छूटते जाते हैं। परद्रव्य पर आत्मा का पुरुषार्थ नहीं चलता, इसलिये परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के नहीं है किन्तु अपने भाव पर अपना पुरुषार्थ चल सकता है और अपने भाव का ही फल आत्मा को है।

ज्ञानी कहते हैं कि सर्व प्रथम पुरुषार्थ के द्वारा यथार्थ ज्ञान करके मिथ्यात्वभाव को छोड़ो, यही मोक्ष का कारण है।

सत्तास्वरूप शास्त्र के कुछ नमूने

युवकों और विद्वानों से

जिज्ञासुओं को पहले क्या करना चाहिये ?

तत्त्वनिर्णयरूप धर्म तो, बालक, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान, निर्धन, सुक्षेत्री तथा कुक्षेत्री आदि सभी अवस्था में प्राप्त होने योग्य है, इसलिये जो पुरुष अपना हित चाहता है, उसे सबसे पहले यह तत्त्व निर्णयरूप कार्य ही करना योग्य है। कहा है कि:—

न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशांतरे प्रार्थना।
केषांचिन्न बलक्षयो न तु भयं पीड़ा न कस्माश्च न॥
सावद्यं न न रोग जन्म पतनं नैवान्य सेवा न हि।
चिद्रूपं स्मरणे फलं बहुतरं किन्नाद्रियंते बुधाः॥

अर्थ—चिद्रूप (ज्ञानस्वरूप) आत्मा का स्मरण करने में न तो क्लेश होता है, न धन खर्च करना पड़ता है, न ही देशांतर में जाना पड़ता है, न कोई पास में प्रार्थना करनी पड़ती है, न बल का क्षय होता है, न ही किसी तरफ से भय अथवा पीड़ा होती है; और वह सावद्य भी (पाप का कार्य) नहीं है, उससे रोग अथवा जन्म-मरण में पड़ना नहीं पड़ता, किसी की सेवा नहीं करनी पड़ती, ऐसी बिना किसी कठिनाई के ज्ञानस्वरूप आत्मा के स्मरण का बहुत फल है, तब फिर समझदार पुरुष उसे क्यों नहीं ग्रहण करते ?

और फिर जो तत्त्वनिर्णय के सन्मुख नहीं हुये हैं, उन्हें जागृत करने के लिये उलाहना दिया है कि—

साहीणे गुरु जोगे जेण सुणंतीह धम्मवयणाई।
ते धिट्ठदुट्ठ चित्ता अह सुहडा भवभय विहुणा॥

अर्थ—गुरु का योग स्वाधीन होने पर भी जो धर्म वचनों को नहीं सुनते, वे धृष्ठ और दुष्ट चित्तवाले हैं, अथवा वे भवभयरहित (जिस संसार-भय से तीर्थंकरादि डरे, उससे भी नहीं डरनेवाले उल्टे) सुभट हैं।

जो शास्त्राभ्यास के द्वारा तत्त्वनिर्णय नहीं करते और विषय-कषाय के कार्यों में ही मग्न रहते हैं, वे अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं तथा जो सम्यग्दर्शन के बिना पूजा, दान, तप, शील,

संयमादि व्यवहारधर्म में (शुभभाव में) मग्न हैं, वे शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि है।

इसलिये भाग्योदय से जिनने मनुष्य पर्याय पाई है, उनको तो सर्व धर्म का मूल कारण सम्यग्दर्शन और उसका कारण तत्त्व-निर्णय तथा उसका भी जो मूल कारण शास्त्राभ्यास है, वह अवश्य करना चाहिये।

किन्तु जो ऐसे अवसर को व्यर्थ गंवाते हैं, उन पर बुद्धिमान करुणा करके कहते हैं कि:—

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्त ये प्रमाद्यंति ते शोच्याः खलु धीमताम्॥

(आत्मानुशासन, गाथा-९४)

अर्थ—संसार में बुद्धि का होना ही दुर्लभ है और फिर उसमें भी परलोक के लिये बुद्धि का होना तो और भी दुर्लभ है, ऐसी बुद्धि पाकर जो प्रमाद करते हैं, उन जीवों को ज्ञानी बहुत ही शोचनीय दृष्टि से देखते हैं।

इसलिये जिसे सच्चा जैनी होना है, उसे तो शास्त्र के आधार से तत्त्वनिर्णय करना उचित है किन्तु जो तत्त्वनिर्णय तो नहीं करता और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष आदि सभी कार्य करता है, उसके यह सब कार्य असत्य हैं।

इसलिये आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परंपरा से गुरुओं के उपदेश और स्वानुभव के द्वारा तत्त्व का निर्णय करना चाहिये। जिनवचन तो अपार है, उसका पार तो श्री गणधरदेव भी प्राप्त नहीं कर सके, इसलिये जो मोक्षमार्ग की प्रयोजनभूत रकम है, उसे निर्णयपूर्वक अवश्य जाननी चाहिये। कहा भी है कि—

अंतोणत्थि सुईणं कालो थोआवयं च दुम्मेहा।
तंणवर सिक्खियवं जिं जरमरण कखयं कुणहि॥

(पाहुड, दोहा ९८)

अर्थ—श्रुतियों का अंत नहीं है, काल थोड़ा है और हम निर्बुद्धि (अल्पबुद्धिवाले) हैं; इसलिये हे जीव! तुझे तो वह सीखना चाहिये जिससे तू जन्म-मरण का नाश कर सके।

आत्महित के लिये सर्व प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय करना चाहिये

तुम्हें यदि अपना भला करना हो तो सर्व आत्महित का मूलकारण जो आप्त है, उसके सच्चे स्वरूप का निर्णय करके ज्ञान में लाओ क्योंकि सर्व जीवों को सुख प्रिय है। सुख, भावकर्मों के नाश

से प्राप्त होता है; भावकर्मों का नाश सम्यक्चारित्र से होता है; सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है; सम्यग्ज्ञान, आगम से होता है; आगम किसी वीतराग पुरुष की वाणी से उत्पन्न होता है और वह वाणी किसी वीतराग पुरुष के आश्रित है; इसलिये जो सत्पुरुष हैं, उन्हें अपने कल्याण के लिये सर्व सुख का मूल कारण जो आप्त-अरहंत सर्वज्ञ हैं; उनका युक्तिपूर्वक भलीभाँति सर्व प्रथम निर्णय करके आश्रय लेना चाहिये।

अब जिनका उपदेश सुनते हैं और जिनके कहे हुये मार्ग पर चलना चाहते हैं तथा जिनकी सेवा पूजा, आस्तिकता, जाप, स्मरण, स्तोत्र, नमस्कार और ध्यान करते हैं—ऐसे जो अरहंत सर्वज्ञ हैं, उनका स्वरूप पहले अपने ज्ञान में तो प्रतिभासित हुआ ही नहीं है, तब फिर तुम निश्चय किये बिना किसका सेवन करते हो।

लोक में भी इसी प्रकार—अत्यंत निष्प्रयोजन बात का निर्णय करके प्रवृत्ति की जाती है और इधर तुम आत्महित के मूल आधारभूत अरहंतदेव का निर्णय किये बिना ही प्रवृत्ति कर रहे हो, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

और फिर तुम्हें तो निर्णय करनेयोग्य ज्ञान भी प्राप्त हुआ है; इसलिये तुम इस अवसर को वृथा न गंवाओ। आलस्य आदि छोड़कर उसके निर्णय में अपने को लगाओ, जिससे तुम्हें वस्तु का स्वरूप, जीवादि का स्वरूप, स्वपर का भेदविज्ञान, आत्मा का स्वरूप, हेय-उपादेय और शुभ-अशुभ-शुद्ध अवस्थारूप, अपने पद-अपद का स्वरूप सर्व प्रकार से यथार्थ ज्ञात हो सके। इसलिये सर्व मनोरथ सिद्ध करने का उपाय जो अरहंत-सर्वज्ञ का यथार्थ ज्ञान है, वह जिस प्रकार से सिद्ध हो, वह प्रथम करना योग्य है।

सबसे पहले अरहंत सर्वज्ञ का निर्णय करनेरूप कार्य करना चाहिये, यही श्रीगुरु की मूल शिक्षा है।

सच्चा ज्ञान सम्यग्दृष्टि के होता है

अपने-अपने प्रकरण में अपना-अपना हेय संबंधी यथार्थ जानने का अल्प अथवा विशेष ज्ञान सर्वज्ञ के होता है क्योंकि लौकिक कार्य तो सभी जीव यथार्थ ही करते हैं; इसलिये लौकिक सम्यग्ज्ञान सभी जीवों के थोड़ा-बहुत बना ही रहता है किन्तु मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जो आप्त आगम आदि पदार्थ हैं, उनका यथार्थ ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होता है तथा सर्व ज्ञेय का ज्ञान केवली भगवान के ही होता है, यह जानना चाहिये।

जिनमत की आज्ञा

कोई कहता है कि सर्वज्ञ की सत्ता का निश्चय हम से नहीं हुआ तो क्या हुआ ? यह देव तो सच्चे हैं, इनकी पूजन आदि करना निष्फल थोड़े ही जाता है ?

उत्तर—जो तुम्हारी किंचित् मंदकषायरूप परिणति होगी तो पुण्यबंध तो होगा किन्तु जिनमत में तो देव के दर्शन से आत्मदर्शनरूप फल होना कहा है, वह तो नियम से सर्वज्ञ की सत्ता जानने से ही होगा; अन्य प्रकार से नहीं। यही श्री प्रवचनसार में कहा है।

और फिर तुम लौकिक कार्यों में तो इतने चतुर हो कि वस्तु की सत्ता आदि का निश्चय किये बिना सर्वथा प्रवृत्ति नहीं करते और यहाँ तुम सत्ता का निश्चय भी न करके सयाने अनध्यवसायी (बिना निर्णय के) होकर प्रवृत्ति करते हो, यह बड़ा आश्चर्य है! श्री श्लोकवार्तिक में कहा है कि—जिसके सत्ता का निश्चय नहीं हुआ, परीक्षक को उसकी स्तुति आदि कैसे करना उचित है। इसलिये तुम सर्व कार्यों से पहले अपने ज्ञान में सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करो, यही धर्म का मूल है और यही जिनाम्नाय है।

आत्मकल्याण के अभिलाषियों से अनुरोध

जिन्हें आत्मकल्याण करना है, उन्हें पहले जिनवचन के आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परंपरा गुरु का उपदेश, तथा स्वानुभव इत्यादि के द्वारा प्रमाण-नय-निक्षेप आदि उपाय से वचन की सत्यता का अपने ज्ञान में निर्णय करके गम्यमान हुये सत्यरूप साधन के बल से उत्पन्न जो अनुमान है, उससे सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करके उनका श्रद्धान-ज्ञान-दर्शन पूजन, भक्ति और स्तोत्र नमस्कारादि करना चाहिये।

अपना भला-बुरा अपने परिणामों से ही होता है; इस प्रकार माननेवाला भगवान का सच्चा सेवक है

जो यह मानता है कि अपना भला-बुरा होना अपने परिणामों पर निर्भर है और उसी रूप स्वयं प्रवृत्ति करता है तथा अशुद्ध कार्यों को छोड़ता है, वही जिनदेव का सच्चा सेवक है।

जिसे जिनदेव का सच्चा सेवक होना हो तथा जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट मार्गरूप प्रवृत्ति करना हो, उसे सबसे पहले जिनदेव के सच्चे स्वरूप का अपने ज्ञान में निर्णय करके उसका श्रद्धान करना चाहिये, उसका यही कर्तव्य है।

अरिहंतों ने क्या किया और क्या कहा है ?

परम पूज्य श्री कानजीस्वामी का (गुजराती) मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३२७ पर प्रवचन

अरिहंतपना तो आत्मा की पूर्ण पवित्रदशा है; शरीर में अथवा वाणी में अरिहंतपना नहीं है, किन्तु अपने ज्ञानादि गुणों की जो पूर्ण प्रगट दशा हो गयी है, उसी पूर्ण दशा में ही अरिहंतपना है। उस अरिहंत दशा को प्रगट करनेवाली आत्माओं ने पहले क्या किया था और कौन से उपाय करने से उनके अरिहंत दशा प्रगट हुई थी ? वह पहले जानने की जरूरत है।

जिन जीवों के अहिरंतदशा प्रगट हुई है, वे जीव पहले संसारदशा में थे; पीछे आत्म-स्वभाव की यथार्थ रुचि होने पर, सच्चे ज्ञान के द्वारा अपना परिपूर्ण आत्मस्वरूप उनने जाना और सच्ची श्रद्धा की। 'मैं शुद्ध स्वभावी आत्मा हूँ, परवस्तु से मैं भिन्न हूँ, मेरी शुद्धता मेरे स्वभाव के अवलंबन से प्रगट होती है किन्तु परवस्तु से मेरी शुद्धदशा प्रगट नहीं होती तथा जो राग होता है, वह मेरा मूल स्वरूप नहीं है, परवस्तु मेरा कुछ नहीं करती और मैं परवस्तु का कुछ नहीं करता।' इस प्रकार उन आत्माओं ने यथार्थतया जाना और माना, उसके बाद उसी श्रद्धा और ज्ञान को घोंटते-घोंटते क्रमशः स्वभाव की और की स्थिरता बढ़ती गई और रागद्वेष छूटता गया। अंत में परिपूर्ण पुरुषार्थ के द्वारा संपूर्ण स्वरूप की स्थिरता करके उन आत्माओं ने वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट किया। संपूर्ण वीतरागता और संपूर्ण ज्ञान ही आत्मा की अरिहंतदशा है। इस प्रकार अरिहंतदशा को प्रगट करनेवाले आत्माओं ने सर्वप्रथम आत्मा की रुचि के द्वारा सच्ची श्रद्धा और ज्ञान किया, तत्पश्चात् स्थिरता के द्वारा वीतरागता और संपूर्ण ज्ञानरूप अरिहंतदशा प्रगट की। अरिहंतदशा प्रगट होने पर, पूर्व के पुण्य के कारण दिव्यध्वनि खिरी, उस दिव्यध्वनि में भगवान ने क्या कहा ?

यह ध्यान रखना चाहिये कि दिव्यध्वनि, अरिहंत भगवान के आत्मा का गुण नहीं है किन्तु जड़ परमाणुओं की अवस्था है। वास्तव में उस दिव्यध्वनि का कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा अपने संपूर्ण ज्ञान और वीतरागता का कर्ता है। दिव्यध्वनि तो परमाणुओं की अवस्था है किन्तु भगवान की पूर्णदशा का निमित्त पाकर उस वाणी में भी पूर्ण कथन आता है। जो उपाय करने से भगवान ने अपनी पूर्ण अरिहंतदशा प्रगट की, उस उपाय का कथन उस वाणी में आता है। जैसा आत्मस्वभाव स्वयं जाना, वैसा परिपूर्ण आत्मस्वभाव का स्वरूप उस वाणी में कहा है और उस स्वरूप की प्राप्ति क्या करने से होती है ? वह भी उस वाणी में आता है। अरिहंत भगवान दिव्यध्वनि द्वारा कहते हैं कि—

जैसा मैं परिपूर्ण आत्मा हूँ, वैसे ही जगत के सभी जीव परिपूर्ण स्वभाव है। मैंने अपनी परिपूर्ण सर्वज्ञ वीतरागदशा प्रगट की है, उसी प्रकार सभी जीव प्रगट कर सकते हैं। मैंने अपनी परिपूर्ण दशा अपने स्वभाव में से प्रगट की है, वह किसी परवस्तु में से नहीं आई है तथा जगत् के सभी जीवों की दशा अपने स्वभाव में से ही प्रगट होती है। मैं परद्रव्यों से भिन्न हूँ, किसी पर वस्तु को मैं नहीं कर सकता; इसी प्रकार जगत् के सभी जीवों का स्वरूप भी रागरहित सम्पूर्ण है। इस प्रकार प्रथम स्वाधीन स्वरूप को जानकर उसकी श्रद्धा करो, उसी स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान के दृढ़ अभ्यास से स्थिरता करके राग का नाश करने पर वीतरागता प्रगट होती है, यही अरिहंत दशा प्रगट करने का उपाय है। इस प्रकार श्री अरिहंत भगवान ने कहा है।

इस प्रकार अरिहंत भगवान ने क्या किया और कहा—यदि जीव उसे भलीभाँति पहचान ले तो स्वयं वे उपाय करे और उनसे विरुद्ध उपायों को छोड़ दे।

सार - (१) अरहंतदशा को प्रगट करने से पूर्व अरिहंत भगवान का सच्चा स्वरूप जानना चाहिये।

(२) अरिहंत भगवान आत्मा थे और आत्मा में से ही उनने अरिहंत दशा प्रगट की है।

(३) जैसा अरिहंत का आत्मा है, वैसे ही समस्त आत्मा हैं और सभी आत्मा सच्चे उपाय से पूर्ण दशा प्रगट कर सकते हैं।

(४) अरिहंत के आत्मा ने पहले आत्मा का सच्चा ज्ञान और सच्ची श्रद्धा की थी, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता और राग मेरा स्वभाव नहीं है; इस प्रकार स्वभाव को जानने के बाद उन्होंने स्थिरता के द्वारा राग को छोड़ा था और केवलज्ञान-अरिहंत दशा प्रगट की थी। इसलिए जीवों को पहले सच्ची श्रद्धा और सच्चा ज्ञान ही करना चाहिये। तत्पश्चात् स्थिरता के द्वारा राग के त्याग का प्रयत्न करना चाहिये।

इस प्रकार श्री अरिहंत भगवान का संदेश जगत् के सर्व जीवों को सच्चे धर्म की वृद्धि करने के लिये हैं।

कार्य में निमित्त और उपादान के कितने प्रतिशत होते हैं ?

प्रश्न—आत्मा के विकारभाव में कर्म निमित्तरूप तो है न ? कर्म निमित्त है, इसलिये पचास प्रतिशत कर्म कराता है और पचास प्रतिशत आत्मा करता है। इस प्रकार दोनों मिलकर विकार करते हैं ? शास्त्रों में कहा है कि कार्य में उपादानकारण और निमित्तकारण दोनों होते हैं—तब क्या दोनों ५०-५० प्रतिशत कार्य करते हैं ?

उत्तर—निमित्त है, इतनी बात सत्य है किन्तु कार्य का ५० प्रतिश निमित्त से हो और ५० प्रतिशत उपादान से हो, यह बात तीन काल और तीन लोक में सर्वथा असत्य है। कार्य में निमित्त का एक भी प्रतिशत नहीं है। उपादान का शत-प्रतिशत उपादान में और निमित्त का शत-प्रतिशत निमित्त में है। एक का दूसरे में एक भी प्रतिशत नहीं है, दोनों द्रव्य स्वतंत्र हैं। दो द्रव्य एक साथ मिलकर-एकरूप होकर कोई कार्य नहीं कर सकते, किन्तु वे पृथक् ही हैं। यदि दो द्रव्यों से ५०-५० प्रतिशत कार्य हुआ माना जाय तो वे दोनों द्रव्य एकत्रित होकर कार्यरूप परिणत होना चाहिये किन्तु यह तो असंभव है। कार्यरूप में अकेला उपादान स्वयं परिणत होता है, वहाँ निमित्त अलग उपस्थित रूप में ही होता है। निमित्त वस्तु, उपादान के कार्यरूप में किंचित्मात्र भी परिणमित नहीं होती। जो कार्यरूप में स्वयं परिणमित नहीं होती, उसे कर्ता कैसे कहा जा सकता है ? जो द्रव्य कार्यरूप परिणमित होता है, वह द्रव्य ही कार्य का शत प्रतिशत कर्ता है।

उपादान-निमित्तकारण की व्याख्या निम्न प्रकार है—

उपादानकारण—जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप में परिणत होता है, उसे उपादानकारण कहते हैं।

निमित्तकारण—जो पदार्थ, पर में स्वयं कार्यरूप न परिणमे किन्तु उपादान कार्य की उत्पत्ति में अनुकूलरूप उपस्थित हो, उसे निमित्तकारण कहते हैं।

यहाँ स्पष्ट कि उपादान अकेला ही कार्यरूप में परिणमित होता है, निमित्त कार्यरूप में पर में नहीं परिणमता। जो कार्यरूप में परिणमित होता है, वही कर्ता है - ऐसा नियम है। भगवान श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव समयसार की टीका में कहते हैं कि—

(१) ''जो परिणमित होता है, वह कर्ता है; (परिणमन करनेवाले का) जो परिणमन है, वह कर्म है और जो परिणमित है, वह क्रिया है, ये तीनों वस्तुएँ भिन्न नहीं हैं।'' [कलश ५१]

(कर्ताकर्म भिन्न नहीं होते किन्तु उपादान-निमित्त तो भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिये उपादान निमित्त के कोई कर्ताकर्म संबंध नहीं है।)

(२) ''वस्तु एक ही सदा परिणमती है, एक को ही सदा परिणाम होते हैं (अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था एक ही होती है) और एक की ही परिणति क्रिया होती है; कारण कि अनेकरूप होने पर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं।'' [कलश ५२]

एक ही वस्तु अवस्थारूप में होती है। जो वस्तु अवस्थारूप में होती है, वही वस्तु कर्ता है, दूसरी कोई वस्तु कर्ता नहीं है।

(३) दो द्रव्य एक होकर के परिणमित नहीं होते। दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति-क्रिया नहीं होती; कारण कि अनेक द्रव्य हैं, वे अनेक ही हैं, पलटकर एक नहीं होते। [कलश ५३]

प्रत्येक वस्तु पृथक्-पृथक् है, कभी दो वस्तुएँ मिल नहीं जाती और दो वस्तुएँ जुदी होने से दोनों का कार्य भिन्न ही है। यदि यह कार्य दो वस्तुएँ एकमेक होकर करें तो दो वस्तुएँ पृथक् न रहें अर्थात् वस्तु के नाश का प्रसंग आ जाय, वह असंभव है।

(४) ''एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य से दो क्रियाएँ नहीं होती क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।'' [कलश ५४]

दो द्रव्य जुदे-जुदे रहकर एक कार्य करें, यह भी नहीं बनता क्योंकि एक कार्य के दो कर्ता नहीं हो सकते।

(५) ''इस जगत में मोही (अज्ञानी) जीव के 'पर द्रव्य को मैं करता हूँ' इस प्रकार पर द्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार-जो कि अत्यंत दुर्निवार है, वह अनादि संसार से चला आता है।'' [कलश ५५]

(६) ''निश्चय से दो क्रियावादी (अर्थात् एक द्रव्य के दो क्रियाएँ माननेवाला) आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को स्वयं (आत्मा) करता है, इस प्रकार मानता है; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि ही है - ऐसा सिद्धांत है।'' [कलश ८६ टीका]

(७) ''आत्मा अपने ही परिणाम से कर्ता हुआ प्रतिभासित होता है, पुद्गल के परिणाम को

कर्ता हुआ कभी भी प्रतिभासित नहीं हुआ आत्मा की और पुद्गल की—दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है, इस प्रकार माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। यदि जड़-चेतन की क्रिया एक हो तो सर्व द्रव्यों के पलट जाने से सबका लोप हो जायेगा। इस प्रकार का यह बहुत बड़ा दोष उत्पन्न होता है।'' [गाथा ८६ का भावार्थ]

[समयसारजी का कर्ताकर्म अधिकार इसी विषय पर है।]

ऊपर के कथन से यह सिद्धांत स्पष्टतया निश्चित होता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। उपादान और निमित्त ये दोनों जुदे द्रव्य हैं; इसलिये वे एक-दूसरे में कुछ भी कार्य, सहायता अथवा असर नहीं कर सकते। यदि निमित्त, उपादान का कार्य ५० प्रतिशत कर देता हो तो उपादान को निमित्त की वाट जोहनी पड़े-प्रतिक्षा करनी पड़े अर्थात् एक द्रव्य को निज के कार्य में परवस्तु की ५० प्रतिशत जरूरत पड़े तो इस तरह वस्तु की ही पराधीनता होगी किन्तु वस्तु का स्वरूप पराधीन नहीं है। वस्तु स्वतंत्ररूप से अपना कार्य करती है।

कोई निमित्त की ऐसी व्याख्या कहते हैं कि—

''अपने अस्तित्वकाल में उपादानकारण के रहते हुये उपादानकारण को कार्यरूप परिणत करा देवे, उसका नाम सहकारीकारण अर्थात् निमित्तकारण है'' यदि ऐसी निमित्त की व्याख्या की जाय तो वह बिल्कुल गलत है। यह ऊपर के कथन से बराबर सिद्ध होता है। यदि निमित्तकारण अपने में रहकर उपादान को कार्यरूप में परिणमा दे तो वह निमित्त स्वयं ही कर्ता ठहरे तो फिर उपादान द्रव्य ने अपनी अवस्था में क्या किया? क्या उपादान बिना कार्य का रहा? यदि कार्य का अभाव माना जाय तो कार्य-बिना कारण का (उपादान का) भी अभाव हो जायगा... और बड़ा दोष आ जायगा।

उपादान का कार्य ५० प्रतिशत और निमित्त का कार्य ५० प्रतिशत हो, यह भी नहीं हैं, क्योंकि कार्यरूप में उपादान द्रव्य परिणमित होता है, निमित्त का कोई भी अंश उपादान के कार्यरूप में परिणमित नहीं होता। वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। उपादान वस्तु स्वयं अपनी शक्ति से कार्यरूप में परिणमनशील होने से किसी दूसरे परिणमन करानेवाली की अपेक्षा उसके नहीं है अर्थात् उपादान स्वयं अपने में स्वतंत्ररूप से शत-प्रतिशत कार्य करता है, निमित्त-निमित्त में शत-प्रतिशत कार्य करता है, किन्तु उपादान में निमित्त एक प्रतिशत भी कार्य नहीं कर सकता। इस प्रकार दोनों वस्तुएँ संपूर्ण स्वाधीन हैं।

भव्य जीवों को प्रेरणा

—मालिनी छंद—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमा जन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किलकलयति काले क्वापितादात्म्यवृत्तिम्॥

(समयसार कलश २२)

अर्थ—जगत् अर्थात् जगत के जीवों! अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये हुये मोह को अब तो छोड़ो और जो रसिकजनों को रुचिकर है, ऐसे उदयोन्मुख ज्ञान का आस्वादन करो क्योंकि इस जगत् में जो आत्मा है, वह वास्तव में किसी भी प्रकार से अनात्मा (परद्रव्य) के साथ कदापि तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्य के साथ एकरूप नहीं होता।

भावार्थ—आत्मा, परद्रव्य के साथ किसी भी प्रकार, किसी भी काल में एकता के भाव को प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार आचार्यदेव ने अनादि काल से परद्रव्य के प्रति लगे हुये मोह का भेदविज्ञान कराया है और प्रेरणा की है इस एकत्वरूप मोह को अब छोड़ो और ज्ञान का आस्वादन करो। जो मोह है, सो वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है।

श्री सनातन जैन शिक्षावर्ग

[इस वर्ग में पढ़नेवाले १३२ विद्यार्थियों की परीक्षा ली गई थी जिसमें १२३ उत्तीर्ण हुये थे, उनसे पूछे गये कुछ प्रश्न और उनके यथार्थ उत्तर यहाँ दिये जा रहे हैं।]

प्रश्न १ (क)—संसार वृक्ष का मूल क्या है और उस जड़ को काटने के लिये मुमुक्षुओं को क्या करना चाहिये? स्पष्टतया समझाओ।

उत्तर—मिथ्यादर्शन संसाररूपी वृक्ष की जड़ है। मिथ्यादर्शन अर्थात् विपरीत मान्यता। मुमुक्षुओं को उस जड़ को छेदने के लिये विपरीत मान्यता का त्याग कर देना चाहिये। मिथ्यादर्शन के दो भेद हैं अगृहीत और गृहीत। अगृहीत–अर्थात् जो अनादिकाल से (किसी के उपदेश के बिना ग्रहण किया हुआ) चला आ रहा है और गृहीत अर्थात् जो दूसरे के उपदेश से (जन्म धारण करने के बाद) नया ग्रहण किया जाता है।

अगृहीत मिथ्यादर्शन अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये ७ तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष की) विपरीत श्रद्धा करना। सात तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा इस प्रकार होती है—जीव यह मानता है कि जो शरीर है, वह मैं हूँ, मैं उसे हिला–डुला सकता हूँ ऐसा मानते हैं अर्थात् वह जीव को अजीव मानता है। जो अपना स्वभाव नहीं है, उसे अपना मानता है, यह जीवतत्त्व की भूल है ॥१॥ अजीव शरीर के उत्पन्न होने से और नाश होने से अपनी उत्पत्ति और नाश मानता है, यह अजीवतत्त्व की भूल है। स्वयं तो अनादि अनंत है, उसकी उत्पत्ति और नाश नहीं होता ॥२॥ राग–द्वेष आत्मा की विकारीदशा है, विपरीतदशा है, उससे आत्मा को दु:ख होता है, किन्तु ऐसा न मानकर उसमें सुख मानता है, यह आस्रवतत्त्व की भूल है ॥३॥ शुभकर्म के बंध के फल में प्रेम करता है और अशुभकर्म के बंध के फल में द्वेष करता है, परन्तु हेय जो विकारी भाव है, जिससे कर्मों का बंध होता है तथा आदरणीय जो अविकारीभाव है, उसे वैसा न मानकर शुभ के फल को अच्छा और अशुभ के फल को बुरा मानता है, यह बंधतत्त्व की भूल है ॥४॥ सम्यग्दर्शन–ज्ञान और चारित्र से आत्मा का सुख प्रगट होता है किन्तु आत्मज्ञान की समझ उसे कष्टदायक मालूम होती है अर्थात् वह धर्म को दु:खदायक मानता है, यह संवरतत्त्व की भूल है ॥५॥ शुभाशुभ इच्छा को रोकने से तप होता है और ऐसे सम्यक् तप से निर्जरा अर्थात् आत्मा की शुद्धि की वृद्धि होती है और कर्म खिर जाते हैं और यही सच्चे सुख का कारण है किन्तु ऐसा न मानकर पंचेन्द्रियों के विषय

की इच्छा करता है। यद्यपि वह अशुभ को छोड़ देता है किन्तु शुभ को पकड़ रखता है। लेकिन वह यह नहीं मानता कि शुभ भी इच्छा है, यह निर्जरातत्त्व की भूल है ॥६॥ आकुलता का अभाव ही सच्चा सुख है परंतु तीव्र आकुलता की अपेक्षा मंद आकुलता में सुख मानता है अर्थात् अनाकुलता को आकुलता मानता है, यह मोक्षतत्त्व की भूल है ॥७॥

मनुष्य होने के बाद वह कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को मानता है, जिससे अनंत संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है और बहुत दुःख सहन करना होता है, यह गृहीत मिथ्यादर्शन है। इससे अगृहीत मिथ्यात्व को पुष्टि मिलती है। कुगुरु और कुदेव मिथ्यात्व-राग-द्वेषयुक्त होते हैं और बहिरंग परिग्रह धन, मकान, कपड़ा तथा स्त्री, शस्त्र सहित होते हैं। कुधर्म में भावहिंसा और द्रव्यहिंसा सहित क्रिया होती है।

मुमुक्षुओं को यदि संसार वृक्ष का मूल काटना हो तो उन्हें उपरोक्त गृहीत और अगृहीत मिथ्यादर्शन से मुक्त हो जाना चाहिये और सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये।

प्रश्न १ (ख)— धर्म करना किसे सरल है ? धनवान को या निर्धन को ? और वह क्यों ?

उत्तर— धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, उसका परद्रव्य के साथ कोई संबंध नहीं है; इसलिये धनवान अथवा निर्धन किसी के लिये भी धर्म सरल हो, यह नहीं कहा जा सकता। धर्म पैसे से नहीं होता, आत्मा को पहिचानने से ही धर्म होता है। आत्मा को पहिचानने के लिये सच्चे ज्ञान की आवश्यकता है, पैसे की नहीं।

प्रश्न १(ग)— श्री समयसार का कोई कलश अर्थसहित लिखो।

उत्तर— आत्माज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोतिकिम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥ *(समयसार कलश ६२)*

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; तब वह ज्ञान (जानने) के अतिरिक्त दूसरा क्या कर सकता है। आत्मा दूसरे के भाव को (अवस्था को) करनेवाला है, यह मानना अज्ञानी लोगों का मूढ़भाव है।

प्रश्न २(क)— निम्नलिखित पदार्थों में से द्रव्य-गुण और पर्यायों को पहचानो।

(१) केवलज्ञान (२) मिठास (३) निश्चयकाल (४) अरूपित्व (५) ज्वर (६) ज्वर का द्वेष (७) समुद्घात (८) गतिहेतुत्व।

उत्तर— (१) केवलज्ञान पर्याय है (२) मिठास पर्याय है (३) निश्चयकाल द्रव्य है (४)

अरूपित्व गुण है (५) ज्वर पर्याय है (६) ज्वर पर द्वेष पर्याय है (७) समुद्घात पर्याय है (८) गतिहेतुत्व गुण है।

प्रश्न २(ख)—उपरोक्त आठ पदार्थों में जो द्रव्य हों, उनके मुख्य लक्षण बताओ ?

उत्तर—कालद्रव्य है, उसका मुख्य लक्षण परिणमन हेतुत्व है।

प्रश्न २(ग)—उपरोक्त पदार्थों में जो गुण हों वे कौन से द्रव्यों के हैं ?

उत्तर—अरूपित्व जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच द्रव्यों का गुण है और गतिहेतुत्व धर्मास्तिकाय का गुण है।

प्रश्न २(घ)—उपरोक्त पदार्थों में जो पर्यायें हैं, वे किन गुणों की हैं ?

उत्तर—(१) केवलज्ञान पर्याय, जीव के ज्ञानगुण की पर्याय है (२) मिठास, पुद्गल के रसगुण की पर्याय है (३) ज्वर, पुद्गल के स्पर्शगुण की पर्याय है (४) ज्वर पर द्वेष, आत्मा के चारित्रगुण की विपरीत पर्याय है (५) समुद्घात, जीव के प्रदेशत्वगुण की पर्याय है।

प्रश्न ३(क)—निश्चयचारित्र किसे कहते हैं ? उसे कष्टदायक क्यों माना गया है ?

उत्तर—परद्रव्यों से और परभावों से भिन्न अपने शुद्धात्मा की प्रतीति और ज्ञानसहित अपने शुद्ध आत्मा में एकाग्र होना, सो निश्चयचारित्र है। चारित्र तो अपने शुद्धात्मा की लीनतारूप अर्थात् सुखरूप है, उसे कष्टदायक मानना व्यवहारी-अज्ञानी लोगों की विपरीत मान्यता है। ऐसा माननेवाले के सच्चा चारित्र भी नहीं होता।

प्रश्न ३(ख)—जघन्य, मध्य और उत्तम अन्तरात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर—चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य अन्तरात्मा कहा गया है।

पंचम गुणस्थानवर्ती १२ व्रतों के धारक श्रावक को तथा शुभोपयोगी ग्रहादि परिग्रह से रहित छठे गुणस्थान में प्रवर्तमान दिगम्बर मुनि को मध्यम अन्तरात्मा कहा गया है।

एक मिथ्यात्व, ४ कषाय, ९ नोकषायरूप अंतरंग और ग्रह-वस्त्रादि बहिरंग परिग्रह से रहित ७-८-९-१०-११-१२ वें गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी अध्यात्मज्ञानी दिगम्बर मुनि को उत्तम अन्तरात्मा कहा गया है।

प्रश्न ३(ग)—चारित्र महाकष्टदायक है—ऐसा मानकर चारित्र को पालनेवाले पंच महाव्रतधारी मुनि अंतरात्मा के तीन भेदों में से किसमें समाविष्ट होते हैं।

उत्तर—धर्म को कष्टदायक मानकर चारित्र को पालनेवाले महामूढ़ मिथ्यादृष्टि होते हैं, तब

उन्हें पंच महाव्रत हो ही कहाँ से सकते हैं ? वे प्रति समय मिथ्यात्व के अनंत पाप को सेवन करते रहते हैं अर्थात् चारित्र को कष्टदायी माननेवाले तो बहिरात्मा अविवेकी अथवा घोर मिथ्यादृष्टि होते हैं।

प्रश्न ३(घ)—आठ कर्म के नाम लिखो।

उत्तर—(१) ज्ञानावरणी (२) दर्शनावरणी (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) अंतराय यह अष्ट कर्म हैं।

प्रश्न ३(ङ)—ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा पर जोर कर उसके ज्ञान को रोकता है या नहीं स्पष्ट समझाओ।

उत्तर—एक द्रव्य को दूसरा द्रव्य कुछ कर नहीं सकता, इसलिए ज्ञानावरणी कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को बिल्कुल रोक नहीं सकता। जब आत्मा स्वयं अपनी विपरीतता से ज्ञान को रोकता है, तब ज्ञानावरणी कर्म उपस्थित होता है, अर्थात् यह कहा जाता है कि उसे रोकने में वह निमित्त मात्र है। वास्तव में कर्म, ज्ञान को नहीं रोक सकता क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर अपना जोर नहीं डाल सकता।

प्रश्न ३(च)— तीन इंद्रिय जीवों के कितने द्रव्य प्राण होते हैं ? नौ प्राण किन जीवों के होते हैं ? किस जीव के एक भी द्रव्यप्राण नहीं होता ?

उत्तर—तीन इंद्रिय जीवों के ७ द्रव्यप्राण होते हैं। (१) स्पर्शनेन्द्रिय (२) रसनेन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय (४) वचन (५) काय (६) श्वासोच्छवास और (७) आयु।

असैनी पंचेन्द्रिय के ९ द्रव्य प्राण होते हैं।

सिद्ध परमात्मा को छोड़कर कोई भी जीव ऐसा नहीं है जिसके एक भी द्रव्यप्राण न हो।

प्रश्न ३(छ)—निकल द्रव्यात्मा किसे कहते हैं ? उसे किसी परद्रव्य का संग न होने पर भी सुख क्यों कर होता है ?

उत्तर—ज्ञानमात्र ही जिसका शरीर है, औदारिक नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागद्वेषादि भावकर्मों से जो रहित हैं, जिसके अनंत ज्ञान-दर्शन सुख और वीर्य प्रगट हुआ है—ऐसे निर्दोष और पूज्य सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं।

परद्रव्यों से सुख होता है, यह मान्यता ही गलत है; सुख तो अरूपी आत्मा का गुण है और वह सिद्ध परमात्मा के संपूर्णतया प्रगट होता है; इसलिये उनके संपूर्ण सुख है। परद्रव्य के संग से तीन काल और तीन लोक में सुख नहीं हो सकता।

प्रश्न ४(क)—अनादिकाल से आत्मा की जीवतत्त्व संबंधी और बंधतत्त्व संबंधी कौन-कौन सी भूलें होती हैं ? उदाहरणसहित स्पष्ट समझाओ।

उत्तर—(१) जीव ने अनादिकाल से उसका जैसा स्वरूप है, उसे वैसा न मानकर उससे विपरीत माना है, यह जीवतत्त्व की भूल है। जैसे जो शरीर है, सो मैं हूँ, मैं शरीर को हिला सकता हूँ, चला सकता हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं चतुर हूँ, मैं सुंदर हूँ, इत्यादि।

(२) शुभकर्म के फल को इष्ट मानता है और अशुभकर्म के फल को अनिष्ट मानता है, यह बंधतत्त्व की भूल है अर्थात् स्त्री, पुत्र, घर, इत्यादि जो अपने अनुकूल होते हैं, उन्हें ठीक मानता है और जब वे ही पदार्थ प्रतिकूल होते हैं, तब उनके प्रति द्वेष करके उन्हें अनिष्ट मानता है। किन्तु वास्तव में तो (शुभ-अशुभ) दोनों बंध स्वरूप हैं, तथापि शुभ को ठीक और अशुभ को खराब मानना, बंधतत्त्व की भूल है।

प्रश्न ४(ख)—कितने द्रव्य अनादि-अनंत हैं ? और वे किन गुणों के कारण ? जीव के अनुजीवी विशेष गुणों में से ५ के नाम लिखोम।

उत्तर—छहों द्रव्य अनादि-अनंत हैं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व नाम का गुण विद्यमान है।

चेतना, सम्यक्त्व, सुख, वीर्य और भव्यत्व यह पाँच जीव द्रव्य के अनुजीवी विशेष गुण हैं।

प्रश्न ४(ग)—आँख से श्री सीमंधरस्वामी के दर्शन करना, सो दर्शनचेतना का व्यापार है या ज्ञानचेतना का ? दर्शनचेतना के चार भेदों में से अथवा ज्ञानचेतना के ५ भेदों में से कौन सा भेद उस समय वर्तमान होता है ?

उत्तर—आँख से श्री सीमंधर प्रभु के दर्शन करना, सो ज्ञानचेतना का व्यापार है। उस समय ज्ञानचेतना का मतिज्ञान-भेद वर्तमान है।

प्रश्न ४(घ)—अनेकांत को समझाने के लिये दो उदाहरण दो। 'आत्मा किसी भी पुद्गल को नहीं हिला सकता, यह मानने से एकांत हो जाता है, आत्मा सूक्ष्म पुद्गल को भले न हिला सके परंतु स्थूल पुद्गलरूप टेकरियों को तो खोद सकता है, इस प्रकार मानना सो अनेकांत की सच्ची मान्यता है' यह कथन ठीक है या नहीं ? सो समझाओ।

उत्तर—अनेकांत-(१) आत्मा अपनी अपेक्षा से है और परापेक्षा से नहीं है, इस प्रकार की दृष्टि ही सच्ची अनेकांतदृष्टि है। (२) आत्मा द्रव्यापेक्षा से नित्य है और पर्यायापेक्षा से बदलता है,

इसी दृष्टि अनेकांत है।

'आत्मा किसी भी पुद्गल को नहीं हिला सकता यों मानने से एकांत हो जाता है' यह बात बिल्कुल असत्य है। 'आत्मा किसी भी पुद्गल को नहीं हिला सकता' यह कथन एकांत नहीं है किन्तु अनेकांत है क्योंकि आत्मा अपना सबकुछ कर सकता है किन्तु पर का कुछ भी नहीं कर सकता। 'आत्मा सूक्ष्म पुद्गल को-परमाणु को भले न हिला सके किन्तु स्थूल पुद्गलरूप टेकरियों तो खोद सकता है, इस प्रकार मानना, सो अनेकांत की सच्ची मान्यता है' उपरोक्त कथन भी असत्यार्थ है, यह कथन मिथ्यादृष्टि का है क्योंकि अरूपी आत्मा एक रूपी परमाणु को भी नहीं हिला सकता तथा अनेक अनंत पुद्गल को भी नहीं हिला सकता क्योंकि तीन काल और तीन लोक में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का करता-हरता नहीं हो सकता। ★

जिज्ञासु को धर्म कैसे करना चाहिये ?

समयसार गाथा १४४ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

जो जीव जिज्ञासु होकर स्वभाव को समझने केलिये आया है, वह सुख लेने को और दुःख दूर करने को आया है। सुख अपना स्वभाव है और वर्तमान में जो दुःख है, वह क्षणिक है, इसलिए वह दूर हो सकता है। वर्तमान दुःखरूप अवस्था को दूर करके स्वयं सुखरूप अवस्था को प्रगट कर सकता है। जो सत् को समझने के लिये आया है, उसने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है। आत्मा को अपने भाव में पुरुषार्थ करके विकाररहित स्वरूप का निर्णय करना चाहिये। वर्तमान विकार होने पर भी विकार रहित स्वभाव की श्रद्धा की जा सकती है अर्थात् यह निश्चय हो सकता है कि यह विकार और दुःख मेरा स्वरूप नहीं है।

पात्र जीव का लक्षण

जिज्ञासु जीवों को स्वरूप का निर्णय करने के लिये शास्त्रों ने पहली ही ज्ञानक्रिया बताई है। स्वरूप का निर्णय करने के लिये अन्य कोई दान, पूजा, भक्ति, व्रत, तपादि करने को नहीं कहा है परंतु श्रुतज्ञान से आत्मा का निर्णय करना ही कहा है। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र का आदर और उस ओर का खिंचाव तो दूर हो ही जाना चाहिये, तथा विषयादि परवस्तु में जो सुखबुद्धि है, वह दूर हो जाना चाहिये। सब ओर से रुचि दूर होकर अपनी ओर रुचि होनी चाहिये। देव, गुरु और शास्त्र को यथार्थ रीत्या पहचान कर उस ओर आदर करे और यदि यह सब स्वभाव के लक्ष्य से हुआ हो तो उस जीव के पात्रता हुई कही जा सकती है, इतनी पात्रता भी सम्यग्दर्शन का मूल कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का मूल कारण तो चैतन्यस्वभाव का लक्ष्य करना है। परंतु पहले कुदेवादि का सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और सत्समागम का प्रेम तो पात्र जीवों के होता ही है, ऐसे पात्र जीवों को आत्मा का स्वरूप समझने के लिये क्या करना चाहिये, यह इस समयसार में स्पष्टतया बतलाया है।

सम्यग्दर्शन के उपाय के लिये समयसार में बताई गई क्रिया

'पहले श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण जो इंद्रियों के द्वारा और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धि है, उसे मर्यादा में लाकर जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है—ऐसा तथा नाना प्रकार के पक्षों के अवलंबन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता को उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ अत्यंत विकल्परहित होकर तत्काल परमात्मारूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, उस समय ही आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् श्रद्धा की जाती है) और मालूम होता है; इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।' [समयसार, गाथा १४४ की टीका]

अब यहाँ पर इसका स्पष्टीकरण किया जाता है।

श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिये ?

'प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना' कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिये ? सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान अस्ति-नास्ति के द्वारा वस्तु स्वरूप सिद्ध करता है। अनेकांत, स्वरूप को 'स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है' इसप्रकार जो स्वतंत्र सिद्ध करता है, वह श्रुतज्ञान है।

बाह्यत्याग श्रुतज्ञान का लक्षण नहीं है

परवस्तु को छोड़ने के लिये कहे अथवा पर के ऊपर के राग को कम करने के लिये कहे, इस प्रकार भगवान के द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान का लक्षण नहीं है। एक वस्तु अपनी अपेक्षा से है और यह वस्तु अनंत परद्रव्यों से पृथक् है; इस प्रकार अस्ति-नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करके जो वस्तुस्वरूप को बतलाता है, वह अनेकांत है और वही श्रुतज्ञान का लक्षण है। वस्तु स्व अपेक्षा से है और परापेक्षा से नहीं है, इसमें वस्तु को ध्रुवरूप में सिद्ध किया है।

श्रुतज्ञान का वास्तविक लक्षण-अनेकांत

एक वस्तु में 'है' और 'नहीं है' ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रकाश कर वस्तु का पर से भिन्न स्वरूप बताती हैं, यही श्रुतज्ञान भगवान के द्वारा कहा गया शास्त्र है। इस प्रकार आत्मा सर्व परद्रव्यों से प्रथक् वस्तु है, इस प्रकार पहले श्रुतज्ञान से निश्चय करना चाहिये।

अनंत परवस्तुओं से यह आत्मा भिन्न है, इस प्रकार सिद्ध होने पर अब अपनी द्रव्य-पर्याय में देखना चाहिये। मेरा त्रिकाल द्रव्य एक समयमात्र की अवस्थारूप नहीं है अर्थात् विकार क्षणिक पर्याय के रूप में है परंतु त्रिकाल स्वरूप के रूप में नहीं है। इस प्रकार विकाररहित स्वभाव की सिद्धि भी अनेकांत से होती है। भगवान के द्वारा कहे गये सत् शास्त्रों की महत्ता अनेकांत से ही है। भगवान ने परजीवों की दया पालन करने को कहा है और अहिंसा बतलाकर कर्मों का वर्णन किया है—यह कहीं भगवान को अथवा भगवान के द्वारा कहे गये शास्त्र को पहचानने का वास्तविक लक्षण नहीं है।

भगवान भी दूसरे का नहीं कर सके

भगवान ने अपना कार्य परिपूर्ण किया और दूसरे का कुछ भी नहीं किया क्योंकि एक तत्त्व अपनेरूप में है और पररूप में नहीं है; इसलिये वह किसी अन्य का कुछ नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न स्वतंत्र है, कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, इस प्रकार जानना ही भगवान के शास्त्र की पहिचान है, यही श्रुतज्ञान है। यह तो अभी स्वरूप को समझनेवाले की पात्रता कही गई है।

जैनशास्त्र में कथित प्रभावना का सच्चा स्वरूप

कोई परद्रव्य की प्रभावना नहीं कर सकता परंतु जैनधर्म अर्थात् आत्मा का जो

वीतरागस्वभाव है, उसकी प्रभावना धर्मी जीव कर सकते हैं। आत्मा को जाने बिना आत्मा के स्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना किस प्रकार करे? प्रभावना करने का जो विकल्प उठता है, वह भी पर के कारण नहीं, क्योंकि दूसरे के लिये कुछ भी अपने में होता है, यह कहना जैनशासन की मर्यादा में नहीं है। जैनशासन तो वस्तु को स्वतंत्र स्वाधीन परिपूर्ण स्थापित करता है।

भगवान ने परजीव की दया का पालन करना नहीं कहा

भगवान ने अन्य जीवों की दया की स्थापना की है, यह बात गलत है। यह जीव परजीव की क्रिया कर ही नहीं सकता तो फिर भगवान उसे बचाने के लिये क्यों कहेंगे? भगवान ने तो आत्मस्वभाव को पहचानकर अपने आत्मा को कषायभाव से बचाने को कहा है, यही सच्ची दया है। अपने आत्मा का निर्णय किये बिना कोई क्या करेगा? भगवान के श्रुतज्ञान में तो यह कहा है कि तू अपने से परिपूर्ण वस्तु है। प्रत्येक तत्त्व अपने आप ही स्वतंत्र है। किसी तत्त्व को दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं है। इस प्रकार वस्तु के स्वरूप को पृथक् रखना, सो अहिंसा है। और एक दूसरे का कुछ कर सकता है, इस प्रकार वस्तु को पराधीन मानना, सो हिंसा है।

आनंद प्रगट करने की भावनावाला क्या करे?

जगत् के जीवों को सुख चाहिये है। सुख कहो या धर्म कहो। धर्म करना है, इसलिये आत्मशांति चाहिये है। अच्छा करना है किन्तु अच्छा कहाँ करना है? आत्मा की अवस्था में दुःख का नाश करके वीतराग आनंद प्रगट करना है। यह आनंद ऐसा चाहिये कि जो स्वाधीन हो। जिसके लिये पर का अवलंबन न हो, ऐसा आनंद प्रगट करने की जिसकी यथार्थ भावना हो, वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानंद प्रगट करने की भावनावाला जिज्ञासु पहले यह देखे कि ऐसा पूर्णानंद किसे प्रगट हुआ? निज को अभी वैसा आनंद प्रगट नहीं हुआ क्योंकि यदि अपने को वैसा आनंद प्रगट हो तो प्रगट करने की उसे भावना न हो। तात्पर्य यह है कि अभी निज को वैसा आनंद प्रगट नहीं हुआ किन्तु अपने में जैसी भावना है। वैसा आनंद अन्य किसी को प्रगट हो चुका है और जिन्हें वैसा आनंद प्रगट हुआ है, उनके निमित्त से स्वयं वह आनंद प्रगट करने का यथार्थ मार्ग जाने। अर्थात् इसमें सच्चे निमित्तों की पहचान भी आ गई। जब तक इतना करता है, तब तक अभी जिज्ञासु है।

अपनी अवस्था में अधर्म-अशांति है। उसे दूर करके धर्म-शांति प्रगट करना है। वह शांति अपने आधार पर और परिपूर्ण होना चाहिये। जिसे ऐसी जिज्ञासा हो, वह पहले यह निश्चय करे कि

मैं एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ तो वैसा परिपूर्ण सुख किसी के प्रगट हुआ होना चाहिये। यदि परिपूर्ण सुख-आनंद प्रगट न हो तो दु:खी कहलायेगा। जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनंद प्रगट हुआ है, वही संपूर्ण सुखी है। ऐसे सर्वज्ञ ही हैं। इसप्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय करता है। पर के करने-धरने की बात तो है ही नहीं। जब वह पर से किंचित् पृथक् हुआ है, तब तो आत्मा की जिज्ञासा हुई है। यह तो पर से अलग होकर अब जिसको अपना हित करने की तीव्र आकांक्षा जागृत हुई है, ऐसे जिज्ञासु जीव की यह बात है। परद्रव्य के प्रति जो सुखबुद्धि है और जो रुचि है, उसे दूर कर देना, सो पात्रता है तथा स्वभाव की रुचि और पहचान का होना, सो पात्रता का फल है।

दु:ख का मूल, भूल है। जिसने अपनी भूल से दु:ख उत्पन्न किया है, यदि वह अपनी भूल को दूर कर दे तो उस का दु:ख दूर हो जाय। अन्य किसी ने वह भूल नहीं कराई है; इसलिये दूसरा कोई अपना दु:ख दूर करने में समर्थ नहीं है।

श्रुतज्ञान का अवलंबन ही प्रथम क्रिया है

जो आत्मकल्याण करने के लिये तैयार हुआ है—ऐसे जिज्ञासु को पहले क्या करना चाहिये ? सो बताया जाता है। आत्मकल्याण अपने आप नहीं हो जाता किंतु अपने ज्ञान में रुचि और पुरुषार्थ से आत्मकल्याण होता है। अपना कल्याण करने के लिये जिनके पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है, वे कौन हैं ? वे क्या कहते हैं ? उनने पहले क्या किया था ? इसका अपने ज्ञान में निर्णय करना होगा अर्थात् सर्वज्ञ के स्वरूप को जानकर उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के अवलंबन से अपने आत्मा का निर्णय करना चाहिये, यही प्रथम कर्तव्य है। किसी पर के अवलंबन से धर्म प्रगट नहीं होता, तथापि जब स्वयं अपने पुरुषार्थ से समझता है, तब सामने निमित्त के रूप में सच्चे देव और गुरु ही होते हैं।

इस प्रकार पहला निर्णय यही हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष संपूर्ण सुखी है और संपूर्ण ज्ञाता है, वही पुरुष पूर्ण सुख का पूर्ण सत्यमार्ग कह सकता है। इसे स्वयं समझकर अपने पूर्ण सुख को प्रगट किया जा सकता है और जब स्वयं समझता है, तब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्त होते हैं। जिसे स्त्री, पुत्र, पैसा इत्यादि की अर्थात् संसार के निमित्तों की तीव्र रुचि होगी, उसे धर्म के निमित्तों-देव, शास्त्र, गुरु के प्रति रुचि नहीं होगी अर्थात् उसके श्रुतज्ञान का अवलंबन नहीं होगा और श्रुतज्ञान के अवलंबन के बिना आत्मा का निर्णय नहीं होता क्योंकि आत्मा के निर्णय में सत् निमित्त ही होते हैं

परन्तु कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आत्मा के निर्णय में निमित्तरूप नहीं हो सकते। जो कुदेवादि को मानता है, उसके आत्मनिर्णय हो ही नहीं सकता।

जिज्ञासु यह तो मानता ही नहीं है कि दूसरे की सेवा करने से धर्म होता है किंतु वह यथार्थ धर्म कैसे होता है इसके लिये पहले पूर्ण ज्ञानी भगवान और उनके द्वारा कहे गये शास्त्र के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये उद्यमी होता है। जगत् धर्म की कला को ही नहीं समझ पाया। यदि धर्म की एक ही कला को सीख ले तो उसे मोक्ष हुये बिना न रहे।

जिज्ञासु जीव पहले सुदेवादि का और कुदेवादि का निर्णय करके, कुदेवादि को छोड़ता है और उसे सच्चे देव, गुरु की ऐसी लगन लगी है कि उसका यही समझने की ओर लक्ष्य है कि सत् पुरुष क्या कहते हैं। इसलिये अशुभ से तो वह हट ही गया है। यदि सांसारिक रुचि से अलग न हो तो श्रुत के अवलंबन में टिक नहीं सकता।

धर्म कहाँ है और वह कैसे होता है ?

बहुत से जिज्ञासुओं के यही प्रश्न उठता है कि धर्म के लिये पहले क्या करना चाहिये। पर्वत पर चढ़ा जाय, सेवा पूजा की जाय, गुरु की भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त की जाय अथवा दान किया जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं कि इसमें कहीं भी आत्मा का धर्म नहीं है, धर्म तो अपना स्वभाव है। धर्म पराधीन नहीं है। किसी के अवलंबन से धर्म नहीं होता। धर्म किसी के देने से नहीं मिलता किन्तु आत्मा की पहिचान से ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानंद चाहिये है, उसे पूर्ण आनंद का स्वरूप क्या है, वह किसे प्रगट हुआ है, यह निश्चय करना चाहिये। जो आनंद मैं चाहता हूँ, उसे पूर्ण अबाधित चाहता हूँ अर्थात् कोई आत्मा वैसी पूर्णानंद दशा को प्राप्त हुये हैं और उन्हें पूर्णानंददशा में ज्ञान भी पूर्ण ही है क्योंकि यदि पूर्ण ज्ञान न हो तो राग-द्वेष रहे और राग-द्वेष रहे तो दु:ख रहे। जहाँ दु:ख होता है, वहाँ पूर्णानंद नहीं हो सकता; इसलिए जिन्हें पूर्णानंद प्रगट हुआ है, ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं, उनका और वे क्या हैं इसका, जिज्ञासु को निर्णय करना चाहिये। इसीलिये कहा है कि—पहले श्रुतज्ञान के अवलंबन से आत्मा का निर्णय करना चाहिये। इसमें उपादान-निमित्त की संधि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है ? सत् बात कौन कहता है ? यह सब निश्चय करने के लिये निवृत्ति लेनी चाहिये। यदि स्त्री, कुटुंब, लक्ष्मी का प्रेम और संसार की रुचि में कमी न हो तो सत् समागम के लिये निवृत्ति नहीं ली जा सकती। जहाँ श्रुत का अवलंबन लेने की बात कही गई है, वहाँ तीव्र अशुभभाव के त्याग की बात अपने आप आ गई और सच्चे निमित्तों की पहचान करने की बात भी आ गई है।

सुख का उपाय ज्ञान और सत्समागम है

तुझे सुख चाहिये है न ? यदि सचमुच में तुझे सुख चाहिये हो तो पहले यह निर्णय कर और यह ज्ञान कर कि सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है ? सुख कहाँ है और कैसे प्रगट होता है ?—इसका ज्ञान हुये बिना प्रयत्न करते-करते सूख जाय तो भी सुख नहीं मिलता-धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के अवलंबन से यह निर्णय होता है। और यह निर्णय करना ही प्रथम धर्म है। जिसे धर्म प्राप्त करना हो, वह धर्मी को पहचानकर, वे क्या कहते हैं, इसका निर्णय करने के लिये सत्समागम करे। सत्समागम से जिसे श्रुतज्ञान का अवलंबन हुआ कि अहो ! पूर्ण आत्मवस्तु उत्कृष्ट महिमावान् है, ऐसा परम स्वरूप मैंने अनंत काल में कभी सुना भी नहीं था; ऐसा होने पर उसके स्वरूप की रुचि जागृत होती है और सत्समागम का रंग लग जाता है, इसलिये उसे कुदेवादि अथवा संसार के प्रति रुचि नहीं होती।

यदि वस्तु को पहचाने तो प्रेम जागृत हो और उस ओर पुरुषार्थ झुके। आत्मा अनादि से स्वभाव को भूलकर परभावरूपी परदेश में चक्कर लगाता है, स्वरूप से बाहर संसार में परिभ्रमण करते-करते परम पिता सर्वज्ञ परमात्मा और परम हितकारी श्री परम गुरु मिले और वे सुनाते हैं कि पूर्ण हित कैसे हो सकता है और आत्मा के स्वरूप की पहचान कराते हैं, तब अपने स्वरूप को सुनकर किस धर्मी को उल्लास न आयेगा ? आता ही है। आत्मस्वभाव की बात को सुनकर जिज्ञासु जीवों के महिमा जागृत होती ही है। अहो ! अनंत काल से यह अपूर्व ज्ञान न हुआ, स्वरूप से बाहर परभाव में परिभ्रमण करके अनंत काल तक वृथा दुःख उठाया। यदि पहले यह अपूर्व ज्ञान प्राप्त किया होता तो यह दुःख न होता; इस प्रकार स्वरूप की आकांक्षा जागृत करे, रुचि उत्पन्न करे और इस महिमा को यथार्थतया रटते हुये स्वरूप का निर्णय करे। इस प्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो, उसे पहले श्रुतज्ञान का अवलंबन लेकर आत्मा का निर्णय करना चाहिये। भगवान की श्रुतज्ञानरूपी डोरी को दृढ़ता से पकड़कर उसके अवलंबन से स्वरूप में पहुँचा जा सकता है। श्रुतज्ञान के अवलंबन का अर्थ है सच्चे श्रुतज्ञान की रुचि का होना और अन्य कुश्रुतज्ञान में रुचि का न होना। जिसकी संसार संबंधी बातों की तीव्र रुचि दूर हो गई है और श्रुतज्ञान में तीव्र रुचि जम गई है और जो श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये तैयार हुआ है, उसे अल्प काल में ही आत्मभान हो जायगा। जिसके हृदय में संसार संबंधी तीव्र रंग जमा है, उसके परम शांत स्वभाव की बात को समझने की पात्रता जागृत नहीं हो सकती। यहाँ जो 'श्रुत का

अवलंबन' शब्द रखा है, वह अवलंबन तो स्वभाव के लक्ष्य है, वापिस न होने के लक्ष्य से है। समयसारजी में अप्रतिहत शैली से ही बात है। ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये जिसने श्रुत का अवलंबन लिया है, वह आत्मस्वभाव का निर्णय करता ही है। वापिस होने की बात ही समयसार में नहीं है।

संसार की रुचि को कम करके आत्मा का निर्णय करने के लक्ष्य से जो यहाँ तक आया है, उसे श्रुतज्ञान के अवलंबन से निर्णय अवश्य होगा। निर्णय न हो, यह हो ही नहीं सकता। साहूकार के वहीखाते में दिवाले की बात ही नहीं होती; इसी प्रकार यहाँ दीर्घ संसार की बात ही नहीं है। यहाँ तो एक-दो भव में अल्पकाल में ही मोक्ष जानेवाले जीवों की बात है। सभी बातों की हाँ हाँ कहा करे और अपने ज्ञान में एक भी बात का निर्णय न करे, ऐसे 'ध्वज पुच्छल' जीवों की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो सुहागा जैसी स्पष्ट बात है। जो अनंत संसार का अंत लाने के लिये पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से प्रारंभ करने को निकले हैं, ऐसे जीवों का किया हुआ प्रारंभ वापिस नहीं होता, ऐसे लोगों की ही यहाँ बात है। यह तो अप्रतिहत मार्ग है, पूर्णता के लक्ष्य से किया गया प्रारंभ वापिस नहीं होता। पूर्णता के लक्ष्य से पूर्णता होती ही है।

रुचि की रटन

यहाँ पर एक ही बात को अदल-बदलकर बारंबार कहा है। इसलिये रुचिवान् जीव उकलाता नहीं है। नाटक की रुचिवाला आदमी नाटक में 'वंशमोर' कहके भी अपनी रुचि की वस्तु को बारंबार देखता है। इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को आत्मा की रुचि हो गई है और जो आत्मा का भला करने के लिये निकले हैं, वे बारंबार रुचिपूर्वक प्रति समय-खाते-पीते, चलते-सोते, बैठते बोलते और विचार करते हुये निरंतर श्रुत का ही अवलंबन स्वभाव के लक्ष्य से करते हैं। उसमें कोई काल अथवा क्षेत्र की मर्यादा नहीं करता। उन्हें श्रुतज्ञान की रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गई है कि वह कभी भी दूर नहीं होती। अमुक समय तक अवलंबन करके फिर उसे छोड़ देने की बात नहीं है परंतु श्रुतज्ञान के अवलंबन से आत्मा का निर्णय करने को कहा गया है। जिसे सच्चे तत्त्व की रुचि है, वह अन्य समस्त कार्यों की प्रीति को गौण कर देता है।

प्रश्न—तब क्या सत् की प्रीति होने पर खाना-पीना और धंधा-व्यापार इत्यादि सब छोड़ देना चाहिये ? क्या श्रुतज्ञान को सुनते ही रहना चाहिये और फिर उसे सुनकर किया क्या जाय ?

उत्तर—सत् की प्रीति होने पर तत्काल खाना-पीना इत्यादि सब छूट जाता हो, सो बात नहीं

है किंतु उस ओर से रुचि अवश्य ही कम हो जाती है। पर में से सुखबुद्धि उठ जाय और सर्वत्र एक आत्मा ही आगे हो तो निरंतर आत्मा की ही चाह स्वतः होगी, मात्र श्रुतज्ञान को सुनते ही रहना चाहिये—ऐसा नहीं कहा किन्तु श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का निर्णय करना चाहिये। श्रुत के अवलंबन की धुनि लगने पर देव, गुरु, शास्त्र, धर्म, निश्चय-व्यवहार इत्यादि अनेक पहलुओं की बातें आती हैं, उन सब पहलुओं को जानकर एक ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिये। इसमें भगवान कैसे हैं, उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं ? इन सबका अवलंबन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा-ज्ञानस्वरूप ही है, तू ज्ञान के सिवाय दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

इसमें यह बताया गया है कि देव, शास्त्र, गुरु कैसे होते हैं और उन देव, शास्त्र, गुरु को पहचानकर उनका अवलंबन लेनेवाला स्वयं क्या समझा होता है। तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है, तेरा जानना ही स्वभाव है; किसी पर का कुछ करना अथवा पुण्य-पाप के भाव करना तेरा स्वरूप नहीं है। यह सब जो बतलाते हों, वे सच्चे देव, शास्त्र, गुरु हैं और इसप्रकार जो समझता है, वही देव, शास्त्र, गुरु के अवलंबन से श्रुतज्ञान को समझा है; किन्तु जो राग से धर्म को मनवाते हों और शरीराश्रित क्रिया आत्मा करता है, यह मनवाते हों तथा जो यह कहते हों कि जड़ कर्म आत्मा को परेशान करते हों, वे सच्चे देव, शास्त्र, गुरु नहीं हो सकते।

जो शरीरादि सर्व पर से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा का स्वरूप बताते हों और यह बताते हों कि पुण्य-पाप का कर्तव्य आत्मा का नहीं है, वही सच्चा शास्त्र है, वही सच्चे देव हैं और वही सच्चे गुरु हैं। जो पुण्य से धर्म बतलाते हैं और जो यह बतलाते हैं कि शरीर की क्रिया का करता आत्मा है तथा जो राग से धर्म होना बतलाते हैं, वे सब कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र हैं क्योंकि वे यथावत् वस्तुस्वरूप के ज्ञाता नहीं हैं और वे विपरीत स्वरूप ही बतलाते हैं। जो वस्तु स्वरूप जैसा है, वैसा न बताये और किंचित्मात्र भी विरुद्ध बताये, वह सच्चा देव, सच्चा शास्त्र या सच्चा गुरु नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञान के अवलंबन का फल-आत्मानुभवन है

मैं आत्मा तो ज्ञायक हूँ, पुण्य-पाप की वृत्तियां मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञान से भिन्न हैं। इस प्रकार पहले विकल्प के द्वारा देव, गुरु, शास्त्र के अवलंबन से यथार्थ निर्णय करता है, ज्ञान-स्वभाव का अनुभव होने से पहले की यह बात है। जिसने स्वभाव के लक्ष्य से श्रुत अवलंबन लिया है, वह अल्प काल में ही आत्मानुभव अवश्य करेगा। पहले विकल्प में यह निश्चय किया कि मैं

पर से भिन्न हूँ, पुण्य-पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त देव, गुरु, शास्त्र का भी अवलंबन परमार्थतः नहीं है। मैं तो स्वाधीन ज्ञानस्वभाववाला हूँ; इस प्रकार जिसने निर्णय किया, उसे अनुभव हुये बिना कदापि नहीं रह सकता। यहाँ प्रारंभ ही ऐसे बलपूर्वक किया है कि पीछे हटने की बात ही नहीं है।

पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूँ; इस प्रकार जिसने निर्णयपूर्वक स्वीकार किया है अर्थात् उसका परिणमन पुण्य-पाप की ओर से हटकर ज्ञायकस्वभाव की ओर गया है, उसके पुण्य-पाप के प्रति आदर नहीं रहा, इसलिये वह अल्प काल में ही पुण्य-पाप रहित स्वभाव का निर्णय करके और उसकी स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण हो जायगा। यहाँ पूर्ण की ही बात है। प्रारंभ और पूर्णता के बीच कोई भेद रखा ही नहीं है। जो प्रारंभ हुआ है, वह पूर्णता को लक्ष्य में लेकर ही हुआ है। सुनानेवाले और सुननेवाले दोनों की पूर्णता ही है। जो पूर्ण स्वभाव की बात करते हैं, वे देव, शास्त्र, गुरु तो पवित्र ही हैं, उनके अवलंबन से जिनने स्वीकार किया है, वे भी पूर्ण पवित्र हुये बिना कदापि नहीं रह सकते। पूर्ण को स्वीकार करके आया है तो पूर्ण अवश्य होगा, इस प्रकार उपादान-निमित्त की संधि साथ ही साथ है।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व.....

आत्मानंद को प्रगट करने की पात्रता का स्वरूप कहा जाता है। तुझे धर्म करना है न? तो तू अपने को पहिचान। सर्वप्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे! तू है कौन? क्या क्षणिक पुण्य-पाप को करनेवाला तू ही हैं? नहीं नहीं। तू तो ज्ञान का कर्ता ज्ञानस्वभावी है। पर को ग्रहण करनेवाला अथवा छोड़नेवाला नहीं है, तू तो मात्र ज्ञाता ही है। ऐसा निर्णय ही धर्म के प्रथम प्रारंभ (सम्यग्दर्शन) का उपाय है। प्रारंभ में अर्थात् सम्यग्दर्शन होने से पूर्व ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रता में भी नहीं है। मेरा सहज स्वभाव जानना है; इस प्रकार श्रुत के अवलंबन से जो निर्णय करता है, वह पात्र जीव है। जिसे पात्रता प्रगट हो गई, उसे अंतरंग अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व जिज्ञासु जीव, धर्म सन्मुख हुआ जीव, सत्समागम को प्राप्त हुआ जीव श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करता है।

मैं ज्ञानस्वभावी जाननेवाला हूँ। कहीं भी राग-द्वेष करके ज्ञेय में अटक जाना मेरा स्वभाव नहीं है। चाहे जो हो, मैं तो मात्र उसका ज्ञाता हूँ, मेरा ज्ञातास्वभाव पर का कुछ करनेवाला नहीं है। जैसे मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, वैसे ही जगत् के सब आत्मा ज्ञानस्वभावी हैं, वे स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का

निर्णय भूले हैं, इसलिये दु:खी हैं। यदि वे स्वयं निर्णय करें तो उनका दु:ख दूर हो। मैं किसी के बदलने में समर्थ नहीं हूँ, मैं पर जीवों के दु:खों को दूर नहीं कर सकता। क्योंकि दु:ख उनने अपनी भूल से किया है, इसलिये वे यदि अपनी भूल को दूर करें तो उनका दु:ख दूर हो सकता है। ज्ञान का स्वभाव किसी पर के लक्ष्य से अटकना नहीं है।

पहले जो श्रुतज्ञान का अवलंबन बताया है, उसमें पात्रता आ चुकी है अर्थात् श्रुत के अवलंबन से आत्मा का अव्यक्त निर्णय हो चुका है। तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है? यह अब कहते हैं:—

सम्यग्दर्शन से पूर्व श्रुतज्ञान के अवलंबन के बल से आत्मा के ज्ञानस्वभाव को अव्यक्त रूप में लक्ष्य में लिया है। अब प्रगटरूप में लक्ष्य में लेते हैं, अनुभव करते हैं, आत्म-साक्षात्कार अर्थात् सम्यग्दर्शन करते हैं; सो कैसे? उसकी बात यहाँ कहते हैं। पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, परपदार्थ की प्रसिद्धि का कारण जो इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं, उनको मर्यादा में लेकर, जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है। ऐसा अप्रगटरूप निर्णय हुआ था, वह अब प्रगटरूप कार्य को लाता है। जो निर्णय किया था उसका फल प्रगट होता है।

यह निर्णय जगत् के सभी आत्मा कर सकते हैं। सभी आत्मा परिपूर्ण भगवान ही हैं, इसलिये सब अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर सकने में समर्थ हैं। जो आत्मा का कुछ करना चाहता है, उसके वह हो सकता है। किन्तु अनादिकाल से अपनी परवाह नहीं की। हे भाई! तू कौन सी वस्तु है, यह जाने बिना तू क्या करेगा? पहले इस ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिये। यह निर्णय होने पर अव्यक्तरूप में आत्मा का लक्ष्य हुआ; फिर पर के लक्ष्य और विकल्प से हटकर स्व का लक्ष्य प्रगटरूप में, अनुभवरूप में कैसे करना चाहिये? सो बताते हैं।

आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये इन्द्रिय और मन से जो परलक्ष्य होता है, उसे बदलकर मतिज्ञान को स्व में एकाग्र करते हुये आत्मा का लक्ष्य होता है अर्थात् आत्मा की प्रगटरूप में प्रसिद्धि होती है। आत्मा का प्रगटरूप में अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन ही धर्म है।

धर्म के लिये पहले क्या करना चाहिये?

यह कर्ताकर्म अधिकार की अंतिम गाथा है, इस गाथा में जिज्ञासु को मार्ग बताया है। लोक कहते हैं कि आत्मा के संबंध में कुछ समझ में न आये तो पुण्य के शुभभाव करना चाहिये या नहीं?

उत्तर—पहले स्वभाव को समझना ही धर्म है। धर्म के द्वारा ही संसार का अंत है, शुभभाव से धर्म नहीं होता और धर्म के बिना संसार का अंत नहीं होता। धर्म तो अपना स्वभाव है, इसलिये पहले स्वभाव को समझना चाहिये।

प्रश्न—स्वभाव समझ में न आये तो क्या करना चाहिये ? समझने में देर लगे और एकाध भव हो तो क्या अशुभभाव करके मर जाय ?

उत्तर—पहले तो यह हो ही नहीं सकता कि यह बात समझ में न आये। समझने में विलंब हो तो वहाँ समझने के लक्ष्य से अशुभभाव को दूर करके शुभभाव करने से इनकार नहीं है, परंतु यह जान लेना चाहिये कि शुभभाव से धर्म नहीं होता। जब तक किसी भी जड़ वस्तु की क्रिया और राग की क्रिया को जीव अपनी मानता है, तब तक वह यथार्थ समझ के मार्ग पर नहीं है।

सुख का मार्ग सच्ची समझ और विकार का फल जड़ है

यदि आत्मा की सच्ची रुचि हो तो समझ का मार्ग लिये बिना न रहें। सत्य चाहिये हो, सुख चाहिये हो तो यही मार्ग है। समझने में भले विलंब हो जाय किन्तु मार्ग तो सच्ची समझ का ही लेना चाहिये न ? सच्ची समझ का मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझ में आये बिना न रहे। यदि ऐसे मनुष्य शरीर में और सत्समागम के योग से भी सत्य समझ में न आये तो फिर सत्य का ऐसा सुयोग नहीं मिलता। जिसे यह खबर नहीं है कि मैं कौन हूँ और यही स्वरूप को भूलकर जाता है, वह कहाँ जायगा ? वहाँ क्या करेगा ? शांति कहाँ से लायेगा ? आत्मा की प्रतीति के बिना कदाचित् शुभभाव किये हों तो भी उस शुभ का फल जड़ में जाता है। आत्मा में पुण्य का फल नहीं आता। जिसने आत्मा की परवाह नहीं की और यहीं से जो मूढ़ हो गया है, उसने यदि शुभभाव किया भी तो रजकणों का बंध हुआ और उन रजकणों के फल में भी उस रजकणों का ही संयोग मिलेगा। रजकणों का संयोग मिला तो उसमें आत्मा के लिये क्या है ? आत्मा की शांति तो आत्मा में है किन्तु उसकी परवाह तो की नहीं।

असाध्य कौन है और शुद्धात्मा कौन है ?

यहीं पर जड़ का लक्ष्य करके जड़ जैसा हो गया है, मरने से पूर्व ही अपने को भूलकर संयोगदृष्टि से मरता है, असाध्यभाव से वर्तन करता है; इसलिये चैतन्यस्वरूप की प्रतीति नहीं है। वह जीते जी असाध्य ही है। भले ही शरीर हिले-डुले और बोले, किन्तु यह जड़ की क्रिया है, उसका मालिक हुआ, किन्तु अंतरंग में साध्य जो ज्ञानस्वरूप है, उसकी जिसे खबर नहीं है, वह

असाध्य (जीवित मुर्दा) है। वस्तु का स्वभाव यथार्थतया सम्यग्दर्शनपूर्वक जो ज्ञान है, उससे न समझे तो जीव को स्वरूप का किंचित्मात्र भी लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान से स्वरूप की पहिचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ, उसी को 'शुद्ध आत्मा' का नाम प्राप्त होता है और शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध हूँ'—ऐसा विकल्प छूटकर अकेला आत्मानुभव रह जाय, सो यही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं आत्मा से पृथक् नहीं है।

जिसे सत्य चाहिये हो—ऐसे जिज्ञासु समझदार जीव को यदि कोई असत्य बताये तो वह असत्य को स्वीकार नहीं कर लेता। जिसे सत्स्वभाव चाहिये हो, वह स्वभाव से विरुद्ध भाव को स्वीकार नहीं करता-उसे अपना नहीं मानता। वस्तु का स्वरूप शुद्ध है, उसका बराबर निर्णय किया और वृत्ति के छूट जाने पर जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ, वही समयसार है और वही धर्म है। ऐसा धर्म कैसे हो धर्म करने के लिये पहले क्या करना चाहिये? इसके संबंध में यह कथन चल रहा है।

धर्म की रुचिवाले जीव कैसे होते हैं?

धर्म के लिये सर्व प्रथम श्रुतज्ञान का अवलंबन लेकर श्रवण-मनन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना कि मैं एक ज्ञानस्वभाव हूँ। ज्ञान में ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी करने-धरने का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार सत् को समझने में जो समय जाता है, वह भी अनंतकाल में कभी नहीं किया गया अपूर्व अभ्यास है। जीव की सत् की ओर रुचि होती है अर्थात् वैराग्य जागृत होता है, और समस्त संसार के ओर की रुचि उड़ जाती है। चौरासी के अवतार का त्रास अनुभव होने लगता है कि यह त्रास कैसा? स्वरूप की प्रतीति नहीं होती और प्रतिक्षण पराश्रयभाव में लगा रहना पड़ता है, यह भी कोई मनुष्य का जीवन है! तिर्यंच इत्यादि के दु:खों की तो बात ही क्या, परंतु इस मानव का भी ऐसा दु:खी जीवन! और यह अंत में स्वरूप की प्रतीति के बिना असाध्य होकर मरता है? इस प्रकार संसार के त्रास का अनुभव होने पर स्वरूप को समझने की रुचि होती है। वस्तु को समझने के लिये जो समय जाता है, वह भी ज्ञान की क्रिया है सत् का मार्ग है।

जिज्ञासुओं को पहले ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिये। मैं एक ज्ञाता हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, वह जाननेवाला है, पुण्य-पाप कोई मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं है। पुण्य-पाप के भाव अथवा स्वर्ग-नरकादि कोई मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का प्रथम निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

उपादान-निमित्त और कार्य-कारण

सच्चे श्रुतज्ञान के अवलंबन के बिना और श्रुतज्ञान से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय किये बिना आत्मा अनुभव में नहीं आता। इसमें आत्मा का अनुभव करना, सो कार्य है। आत्मा का निर्णय उपादानकारण है और श्रुत का अवलंबन निमित्त है। श्रुत के अवलंबन से ज्ञानस्वभाव का जो निर्णय किया, उसका फल उस निर्णय के अनुसार आचरण अर्थात् अनुभव करना है। आत्मा का निर्णय कारण है और आत्मा का अनुभव कार्य है। अर्थात् जो निर्णय करता है, उसे अनुभव होता ही है।

अंतरंग अनुभव का उपाय अर्थात् ज्ञान की क्रिया

अब आत्मा का निर्णय करने के बाद यह बताते हैं कि उसका प्रगट अनुभव कैसे करना चाहिये ? निर्णयानुसार श्रद्धा का जो आचरण, सो अनुभव है। प्रगट अनुभव में शांति का वेदन लाने के लिये अर्थात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण को छोड़ देना चाहिये। मैं ज्ञानानंदस्वरूपी आत्मा हूँ, इस प्रकार प्रथम निश्चय करने के बाद आत्मा के आनंद का प्रगट उपभोग करने के लिये (वेदन-अनुभव करने के लिये) परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण जो इन्द्रिय और मन के द्वारा परलक्ष्य से प्रवर्तमान ज्ञान है, उसे अपनी ओर उन्मुख करना चाहिये। देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि पर पदार्थ की ओर का लक्ष्य तथा मन के अवलंबन से प्रवर्तमान बुद्धि अर्थात् मतिज्ञान को संकुचित करके मर्यादा में लाकर अपनी ओर ले आना सो अंतरंग अनुभव का पंथ है, सहज शीतल स्वरूप अनाकुल स्वभाव की छाया में बैठने का प्रथम मार्ग है।

पहले आत्मा ज्ञानस्वभाव है—ऐसा बराबर निश्चय करके, पश्चात् प्रगट अनुभव करने के लिये पर की ओर झुकते हुये भाव जो मति और श्रुतज्ञान हैं, उन्हें स्व की और एकाग्र करना चाहिये और जो ज्ञान, पर में विकल्प करके अटक जाता है, उसी ज्ञान को वहाँ से हटाकर स्वभाव की ओर लाना चाहिये। मति और श्रुतज्ञान के जो भाव हैं, वे तो ज्ञान में ही रहते हैं, परंतु पहले वे पर की ओर झुकते थे, परंतु अब उन्हें आत्मोन्मुख करते हुये स्वभाव की ओर लक्ष्य होता है। आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होने की यह क्रमिक सीढ़ियाँ हैं।

ज्ञान में भव नहीं

जिसने मन के अवलंबन से प्रवर्तमान ज्ञान को मन से छुड़ाकर अपनी ओर किया है अर्थात् जो मतिज्ञान पर की ओर जाता था, उसे मर्यादा में लेकर आत्मसन्मुख किया है, उसके ज्ञान में अनंत संसार का नास्तिभाव और ज्ञानस्वभाव का अस्तिभाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करने में अनंत

पुरुषार्थ है। स्वभाव में भव नहीं है, इसलिये जिसके स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ जागृत हुआ है, उसे भव की शंका नहीं रहती। जहाँ भव की शंका है, वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं है और जहाँ सच्चा ज्ञान है, वहाँ भव की शंका नहीं है; इस प्रकार ज्ञान और भव की एक-दूसरे में नास्ति है।

पुरुषार्थ के द्वारा सत्समागम से मात्र ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय किया, पश्चात् मैं अबंध हूँ या बंधवाला हूँ, शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ, त्रिकाल हूँ या क्षणिक हूँ इत्यादि जो वृत्तियाँ उठती हैं, उनमें भी अभी आत्मशांति नहीं है। वे वृत्तियाँ आकुलतामय, आत्मशांति की विरोधिनी हैं। नयपक्ष के अवलंबन से होनेवाले मन संबंधी अनेक प्रकार के जो विकल्प हैं, उन्हें भी मर्यादा में लाकर अर्थात् उन विकल्पों को रोकने के पुरुषार्थ के द्वारा श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करने पर शुद्धात्मा का अनुभव होता है। इस प्रकार मति और श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करना ही सम्यग्दर्शन है। इंद्रिय और मन के अवलंबन से मतिज्ञान परलक्ष्य में प्रवृत्ति कर रहा था, उसे तथा मन के अवलंबन से श्रुतज्ञान अनेक प्रकार के नयपक्षों के विकल्प में अटक जाता था उसे, अर्थात् परावलंबन से प्रवर्तमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को मर्यादा में लाकर-अंतरंग स्वभावसन्मुख करके उन ज्ञानों के द्वारा एक ज्ञानस्वभाव को पकड़कर (लक्ष्य में लेकर) निर्विकल्प होकर तत्काल निज रस से ही प्रगट होनेवाले शुद्धात्मा का अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार अनुभव में आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है ? सो कहते हैं।

आदि-मध्य और अंत से रहित त्रिकाल एकरूप है। उसमें बंध-मोक्ष नहीं है, अनाकुलता स्वरूप है। मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ - ऐसे विकल्प से होनेवाली आकुलता से रहित है। लक्ष्य में पुण्य-पाप का आश्रय छूटकर मात्र आत्मा ही अनुभवरूप है, मात्र एक आत्मा में पुण्य-पाप के कोई भाव नहीं है, मानों समस्त विश्व के ऊपर तैर रहा हो अर्थात् समस्त विभावों से पृथक् हो गया हो, ऐसा चैतन्यस्वभाव पृथक् अखंड प्रतिभासमय अनुभव होता है। आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के ऊपर तैरता है। तैरता है अर्थात् उसमें एकमेक नहीं हो जाता, उसरूप नहीं हो जाता परंतु उससे अलग का अलग ही रहता है। अनंत है अर्थात् जिसके स्वभाव में कभी अंत नहीं है; पुण्य-पाप तो अंतवाले हैं, ज्ञानस्वरूप अनंत है, और विघानघन है-मात्र ज्ञान का ही पिंड है। मात्र ज्ञान-पिंड में किंचित्मात्र भी राग-द्वेष नहीं है। अज्ञानभाव से राग का कर्ता था परंतु स्वभावभाव से राग का कर्ता नहीं है। अखंड आत्मस्वभाव का अनुभव होने पर जो जो अस्थिरता के विभाव थे, उन सब से छूटकर जब यह आत्मा विज्ञानघन अर्थात् जिसमें कोई विकल्प प्रवेश नहीं कर सकते, ऐसे ज्ञान का

निविड़ पिंडरूप परमात्मस्वरूप समयसार है उसका अनुभव करता है तब वह स्वयं ही सम्यग्दर्शनस्वरूप है।

निश्चय और व्यवहार

इसमें निश्चय-व्यवहार दोनों आ जाते हैं। अखंड विज्ञानघनस्वरूप ज्ञानस्वभावी जो आत्मा है, सो निश्चय है और परिणति को स्वभाव के सन्मुख करना, सो व्यवहार है। मति-श्रुतज्ञान को अपनी ओर करने की पुरुषार्थरूपी जो पर्याय है, सो व्यवहार है और जो अखंड आत्मस्वभाव, सो निश्चय है। जब मति-श्रुतज्ञान को स्व की ओर किया और आत्मा का अनुभव किया, उसी समय आत्मा सम्यक्रूप से दिखाई देता है और उसकी श्रद्धा की जाती है, यह सम्यग्दर्शन प्रगट होने के समय की बात की है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

सम्यग्दर्शन होने पर स्वरस का अपूर्व आनंद अनुभव में आता है। आत्मा का सहज आनंद प्रगट होता है, आत्मीक आनंद का उछाल आता है, अंतरंग में आत्मशांति का संवेदन होता है आत्मा का सुख अंतरंग में है, वह अनुभव में आता है, इस अपूर्व सुख का मार्ग सम्यग्दर्शन ही है। 'मैं भगवान आत्मा समयसार हूँ' इस प्रकार जो निर्विकल्प शांतरस अनुभव में आता है, वही समयसार और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभेद किये गये हैं। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनस्वरूप है।

बारंबार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये

सर्वप्रथम आत्मा का निर्णय करके, पश्चात् अनुभव करने को कहा है। सर्वप्रथम जब तक यह निर्णय न हो कि मैं निश्चय ज्ञानस्वरूप हूँ; अन्य कोई रागादि मेरा स्वरूप नहीं है, तब तक सच्चे श्रुतज्ञान को पहचानकर उसका परिचय करना चाहिये। सत्श्रुत के परिचय से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के बाद मति-श्रुतज्ञान को उस ज्ञानस्वभाव की ओर झुकाने का प्रयत्न करना चाहिये तथा निर्विकल्प होने का पुरुषार्थ करना चाहिये, यही पहला अर्थात् सम्यक्त्व का मार्ग है। इसमें तो बारंबार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास ही करना है; बाह्य कुछ नहीं करना है किन्तु ज्ञान में ही समझ और एकाग्रता का प्रयास करना है। ज्ञान में अभ्यास करते-करते जहाँ एकाग्र हुआ, वहाँ उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के रूप में यह आत्मा प्रगट होता है, यही जन्म-मरण को दूर करने का उपाय है। मात्र ज्ञायकस्वभाव है, उसमें अन्य कुछ करने का स्वभाव नहीं है। निर्विकल्प

अनुभव होने से पूर्व ऐसा निश्चय करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि अन्य कुछ माने तो व्यवहार से भी आत्मा का निश्चय नहीं है। अनंत उपवास करे तो भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता। बाहर दौड़ धूप करे तो उससे भी ज्ञान नहीं होता किन्तु ज्ञानस्वभाव की पकड़ से ही ज्ञान होता है। आत्मा की ओर लक्ष्य और श्रद्धा किये बिना सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान कहाँ से हो सकता है ? पहले देव-शास्त्र-गुरु के निमित्तों से अनेक प्रकार श्रुतज्ञान को जाने और उसमें से एक आत्मा को पहिचाने, फिर उसका लक्ष्य करके प्रगट अनुभव करने के लिये मति-श्रुतज्ञान से बाहर झुकती हुई पर्यायों को स्वसन्मुख करने पर तत्काल निर्विकल्प निज स्वभावरस आनंद का अनुभव होता है। आत्मा जिस समय परमात्मस्वरूप का दर्शन करता है, उसी समय स्वयं सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है। जिसे आत्मा की प्रतीति हो गई, उसे बाद में विकल्प उठता है, तब भी जो आत्मदर्शन हो गया है, उसकी प्रतीति तो रहती ही है अर्थात् आत्मानुभव होने के बाद विकल्प उठने से सम्यग्दर्शन चला नहीं जाता। किसी वेष या मर्यादा में सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु स्वरूप ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करने के बाद भी शुभभाव आते तो हैं परंतु आत्महित ज्ञानस्वभाव का निश्चय करने से ही होता है। जैसे-जैसे ज्ञानस्वभाव की दृढ़ता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे शुभभाव भी दूर होते जाते हैं। बाह्य लक्ष्य से जो वेदन होता है, वह सब दुःखरूप है। आत्मा आंतरिक शांतरस की ही मूर्ति है, उसके लक्ष्य से जो वेदन होता है, वही सुख है। सम्यग्दर्शन, आत्मा का गुण है; गुण, गुणी से पृथक् नहीं होता। एक अखंड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

अंतिम अनुरोध

आत्मकल्याण का यह छोटे से छोटा (जो सबसे हो सकता है) उपाय है। अन्य सब उपायों को छोड़कर इसी को करना है। बाह्य में हित का साधन लेशमात्र भी नहीं है। सत्समागम से एक आत्मा का ही निश्चय करना चाहिये। वास्तविक तत्त्व की श्रद्धा के बिना आंतरिक संवेदन का आनंद नहीं जमता। पहले अंतरंग से सत् की स्वीकृति आये बिना, सत्स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और सत्स्वरूप का ज्ञान हुये बिना भवबंधन की बेड़ी नहीं टूट सकती और भवबंधन के अंत से रहित जीवन किस काम का ? भव के अंत की श्रद्धा के बिना कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद अथवा इंद्रपद हो सकता है परंतु उससे आत्मा को क्या लाभ है ? आत्मा की प्रतीति के बिना यह पुण्य और यह इन्द्रपद सब व्यर्थ ही हैं, उसमें आत्मशांति का अंश भी नहीं है; इसलिये

पहले श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञानस्वभाव का दृढ़ निश्चय करने पर प्रतीति में भव की शंका ही नहीं रहती और जितनी ज्ञान की दृढ़ता होती है, उतनी शांति बढ़ती जाती है।

भाई! तू कैसा है, और तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है, इसे तूने नहीं जाना। तू अपनी प्रभुता की भान के बिना बाहर जिस तिस के गीत गाया करे तो इससे तुझे अपनी प्रभुता का लाभ नहीं होगा। पर के गीत तो गाये परंतु अपने गीत नहीं गाये। भगवान की प्रतिमा के समक्ष कह कि 'हे नाथ! हे भगवान! आप अनंत ज्ञान के धनी हो' वहाँ सामने से भी यही प्रतिध्वनि हो कि 'हे नाथ! हे भगवान! आप अनंत ज्ञान के धनी हो' तभी तो अंतरंग में पहचान करके अपने को समझेगा। बिना पहचान के अंतरंग में सच्ची प्रतिध्वनि जागृत नहीं हो सकती।

शुद्धात्मस्वरूप का संवेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो जो भी कहो वह एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहा जाय? जो कुछ है वह एक आत्मा ही है। उसी को भिन्न-भिन्न नाम से कहा जाता है। केवलीपद, सिद्धपद अथवा साधुपद यह सब एक आत्मा में ही समा जाते हैं। समाधिमरण, आराधना इत्यादि नाम भी स्वरूप की स्थिरता ही है। इस प्रकार आत्मस्वरूप की समझ ही सम्यग्दर्शन हैं, और यह सम्यग्दर्शन ही सर्वधर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन ही आत्मा का धर्म है। ★

समयसारावलोकन [गतांक से संपूर्ण]

[गाथा ३६-३७]

४६—प्रत्याख्यान के स्वरूप को अधिक दृढ़ करने के लिये यह दो गाथायें कही गई हैं।

गाथा ३६ में कहा है कि मोह किसी भी प्रकार से मेरा संबंधी नहीं है। मैं एक उपयोग मात्र हूँ, इस प्रकार जानकर उसमें स्थिर हुआ और भावकभाव (रागादि) से अपना स्वभाव भिन्न है, यह भेदज्ञान हो गया।

गाथा ३७ में कहा है कि शरीर, परजीव और अन्य द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं लगते, मैं एक उपयोगमात्र हूँ, यह जानकर अपने ज्ञान में स्थिर हुआ, सो यह ज्ञेयभाव का भेदज्ञान है, उसी को प्रत्याख्यान कहा जाता है, यह कहकर सच्चे प्रत्याख्यान का विषय पूरा किया है। [गाथा ३८]

४७—जो पहले अत्यंत अज्ञानी था, वह इस शास्त्र की प्रारंभिक ३३ गाथाओं में आचार्यदेव के द्वारा दिये गये उपदेश को सुनकर सम्यग्ज्ञानी हो गया, फिर अपने स्वरूप में स्थिर रहने की भावना की, इसलिये उसे गुरुदेव ने उसका स्वरूप गाथा ३४-३७ तक सुनाया। उस जीव को अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप परिणित हुये आत्मा का स्वरूप का कैसा लक्ष्य होता है यह बात इस गाथा में कहकर जीवाधिकार पूर्ण किया गया है।

४८—जीवाधिकार की यह अंतिम गाथा है, उसमें आचार्यदेव कहते हैं कि यह (प्रत्याख्यान करनेवाला) जीव जानता है कि मैं वास्तव में एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, कोई भी अन्य द्रव्य परमाणुमात्र-पुण्य पाप-रागद्वेष मेरे नहीं हैं।

४९—इस गाथा में जीव का अनेकांत स्वरूप कहा है अर्थात् यह समझाया है कि जीव क्या है और क्या नहीं ?

जीव क्या है ? (अस्ति स्वरूप)

(१) स्वयं एक है (२) शुद्ध है (३) ज्ञान-दर्शनमय है (४) सदा अरूपी है।

जीव क्या नहीं है ? (नास्ति स्वरूप)

कोई भी अन्य द्रव्य परमाणुमात्र अर्थात् पुण्य-पाप का, राग का, द्वेष का, अथवा परवस्तु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग भी जीव नहीं है। इस प्रकार आचार्यदेव ने यहाँ पर अनेकांत के द्वारा वस्तुस्वरूप को समझाकर यह विषय पूर्ण किया है। ★

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२६-१२-४६
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड